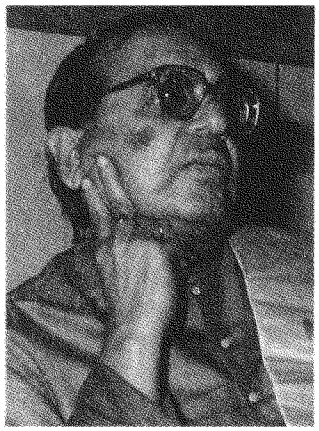

विद्यानिवास मिश्र

Vidya Niwas Misra

डॉ. विद्यानिवास मिश्र, जिन्हें साहित्य अकादेमी, आज अपने सर्वोच्च सम्मान, *महत्तर सदस्यता*, से विभूषित कर रही है, हिन्दी और संस्कृत के अग्रणी विद्वान, प्रख्यात निबंधकार, भाषाविद् और चिन्तक हैं।

आपका जन्म उत्तर प्रदेश के गोरखपुर जनपद के पकड़डीहा गाँव में मकर संक्रांति 1982 वि.सं., तदनुसार 14 जनवरी, 1926 ई. को हुआ। आपने 1945 में प्रयाग विश्वविद्यालय से संस्कृत में एम.ए. करने के पश्चात् हिन्दी साहित्य सम्मेलन में स्व. राहुल सांकृत्यायन के निर्देशन में कोश कार्य किया। तदुपरान्त विंध्य प्रदेश और उत्तर प्रदेश के सूचना विभागों से सम्बद्ध रहे। वर्ष 1957 में विश्वविद्यालय सेवा से जुड़े डॉ. मिश्र ने गोरखपुर विश्वविद्यालय, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय और आगरा विश्वविद्यालय में संस्कृत और भाषा-विज्ञान का अध्यापन किया।आप कैलिफोर्निया और वाशिंगटन विश्वविद्यालयों में अतिथि प्रोफ़ेसर, क.मुं. हिन्दी विद्यापीठ, आगरा के निदेशक (1977-86), काशी विद्यापीठ एवं सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी के कुलपति और *नवभारत टाइम्स* के प्रधान सम्पादक रहे। अपनी साहित्यिक सेवाओं के लिए आप भारत सरकार के पद्मश्री (1988) भारतीय ज्ञानपीठ के मूर्तिदेवी पुरस्कार (1990) और के.के. बिड़ला फाउंडेशन के शंकर पुरस्कार सहित अनेक पुरस्कारों से सम्मानित किये जा चुके हैं। साहित्य अकादेमी की कार्यकारी मण्डल के सदस्य और संस्कृत भाषा सलाहकार मण्डल के संयोजक रहे, मिश्र जी की प्रकाशित कृतियों की संख्या सत्तर से अधिक है, जिनमें व्यक्तिव्यंजक निबंध-संग्रह, आलोचनात्मक तथा विवेचनात्मक कृतियाँ , भाषा चिन्तन के क्षेत्र में शोध ग्रंथ और कविता-संकलन सम्मिलित हैं। सम्प्रति आप *इनसाइक्लोपीडिया ऑफ़ हिंदुइज़्म* और हिन्दी मासिक *साहित्य अमृत* के सम्पादन कार्य से जुड़े हुए हैं।

डॉ. विद्यानिवास मिश्र आधुनिक ज्ञान-विज्ञान, समाज-संस्कृति, साहित्य-कला की नवीनतम चेतना और तेजस्विता से मंडित हैं। संस्कृत भाषा के साथ हिन्दी और अंग्रेज़ी साहित्य के मर्मज्ञ डॉ. मिश्र अनेक संस्थाओं के सम्मानित सदस्य हैं। परम्परा में गहरी निष्ठा के बावजूद आपकी दृष्टि पूरी तरह आधुनिक है और इसी कारण समकालीन विद्वानों और लोगों के बीच आप, निरंतर उपस्थित एवं समादृत रहे हैं। आप एक चलते-फिरते विश्वकोश बन गये हैं, किन्तु आपका विश्वकोशी पांडित्य ही आपका सच्चा परिचय नहीं।

संस्कृत एवं लौकिक साहित्य के विधिवत् अध्ययन और जीवन के समस्त आयोजन एवं अनुष्ठान में उसके विनियोजन के कारण डॉ. मिश्र लोक और शास्त्र—दोनों के समान रूप से आधिकारिक प्रवक्ता रहे हैं।

DR. Vidya Niwas Misra on whom the Sahitya Akademi confers its highest honour of Fellowship today is one of the most eminent scholar-thinkers writing in Hindi.

Dr. Vidya Niwas Misra was born on 14 January, 1926 in Pakardiha, district Gorakhpur, U.P.. After his M.A. in Sanskrit from the University of Allahabad, he took up a lexical project under the guidance of Rahul Sankrityayan. For a while he was associated with the Information Department of the U.P. and Vindhya Pradesh Governments. Thereafter, since 1957 he followed a long and varied career with various academic institutions, such as: Gorakhpur University, Sampoornanand Sanskrit Vishwa Vidyalaya, Universities of California and Washington. He was Director of K.M. Hindi Institute, Agra (1977-86), Vice-chancellor of Kashi Vidyapeeth and Sampoornanand Sanskrit Vishwa Vidyalaya and Chief Editor of *Nav Bharat Times*. He has been honoured with several awards and distinctions including Padma Shree (1988), Moorti Devi Award of Bharatiya Jnanpith (1990), Shankar Puraskar of K.K. Birla Foundation, and many other awards. Convener of the Sanskrit Advisory Board and Member of the Executive Board of the Sahitya Akademi, Dr. Misra has published over seventy books of criticism, language and linguistics, essays and poetry. These days he is associated with the editing of *Encyclopaedia of Hinduism* and a monthly in Hindi, *Sahitya Amrit*.

Vidya Niwas Misra is a renowned multi-disciplinary savant, spanning with ease various fields of traditional and modern knowledge. With his deep-rooted traditional world-view, he is equally respected by the bearers and votaries of modernity. He is Encylopaedic in his knowledge, but he is not a mere book : he subjects scholarship to critical thinking.

Having studied systematically the classical and other modern Indian literatures, Dr. Misra has maintained a live link-up between life and literature and thus he has come to champion both the classical and folk traditions. His literary roots are set deep in this very soil. His sensitivity and awareness are closely attuned to the sun-rise and sun-set, the environment and the perspectives, indeed, to

आपकी साहित्यिक जड़ें इस धरती में गहरे धँसी हुई हैं। इस देश के सूर्योदय एवं सूर्यास्त के साथ अपने परिवेश और परिदृश्य तथा यहाँ की समस्त हलचलों के प्रति आप सतर्क और संवेदनशील रहे हैं। आपकी अंतर्दृष्टि जितनी पैनी है, अभिव्यक्ति भी उतनी ही मर्मस्पर्शिनी है। आपके अपने शब्दों में, "हिमालय के अंचल के निचले छोर ने मुझे अपनी ममता से खड़ा किया; गंगा-यमुना के संगम ने मुझे संघर्षों का झूला झुलाकर गति दी और विंध्य ने धैर्य की गम्भीरता दी ... संस्कृत में जनम कर अंग्रेज़ी का स्तन्यपान किया है, पर मुझे छाँह मिली है भोजपुरी के धानी आँचर में।"

अपने जन्म-स्थान एवं जनपद की विश्रुत लोक-परम्परा और समृद्ध ऐतिह्य चेतना विद्यानिवास जी की सर्जनात्मकता को एक स्निग्धता, अंतरंगता और शक्ति प्रदान करती रही है। यह उनकी भारतीयता और मनुष्यता को प्रशस्त करती है। विद्यानिवास जी वैदिक सूक्तों के गरिमामय उद्‌गम से लेकर लोकगीतों के महासागर तक अविच्छिन्न भारतीय भावधारा के उद्‌गाता हैं। उनके लिए, "भारतीयता की पहचान एक सतत् व्यापार है और वह वस्तुतः अपनी ही पहचान है।" इस प्रयत्न ने आपको अपनी संस्कृति के ऊपर केवल आस्था ही नहीं दी, वरन् विश्वसंस्कृति को समझने के लिए खुला मन भी दिया है, जो किसी भी जातीय संकीर्णता या देशीय पूर्वाग्रह से मुक्त है।

भारतीय सांस्कृतिक मूल्यों के आग्रही डॉ. विद्यानिवास मिश्र निबन्ध की ललित विधा के अप्रतिम पुरस्कर्ता हैं। सर्वश्रेष्ठ निबन्धकार के रूप में विद्यानिवास जी की व्यापक प्रतिष्ठा है। मूलतः संस्कृत के अध्येता पंडित जी का अंग्रेज़ी भाषा-साहित्य पर भी अच्छा अधिकार है। भारतीय पुरा-विद्या के विशिष्ट विद्वान होते हुए डॉ. मिश्र आधुनिक संवेदना के अचूक पारखी हैं। आपका जातीय संस्कार पश्चिमी ज्ञान-धरातल के सामने ज़रा भी निष्प्रतिभ नहीं होता। अज्ञेय ने बहुत सही कहा है कि "पश्चिम के साहित्यों और संस्कृतियों से गहरे परिचय ने विद्यानिवास मिश्र को आतंकित नहीं किया है, बल्कि इनकी भारतीयता को और पुष्ट किया है।" पण्डित जी लोक की प्राण नाड़ी को प्रामाणिक रूप में पहचानते हैं। एक भाषाशास्त्री के रूप में भी मिश्र जी का विद्याजगत में पर्याप्त सम्मान है।

विदेशों के प्रवास-काल में आपने आधुनिक जीवन की द्विविध मुद्राओं और रंगों को तथा उपभोक्ता संस्कृति के खोखलेपन को बहुत क़रीब से देखा-परखा है और आधुनिकता के अभिशाप से समाज की रक्षा के लिए आपकी प्रतिभा क्रियाशील है। निबंधकार विद्यानिवासजी की दृष्टि में मानुष-महिमा का केन्द्रीय महत्त्व है। यद्यपि अपनी रचना के लिए आप प्रसंग चुनते हैं अपने अंतरंग ग्राम-लोक से और यदाकदा अपने परिचित नागर परिवेश से, लेकिन आपके रचनाकार का सीधा सरोकार उन सवालों और चुनौतियों से रहता है, जो मानुष सत्य को क्षत करने वाला परिवेश तैयार करती रहती हैं। आपके निबंधों में लोक और शास्त्र की अभिव्यंजक दीप्ति सर्वत्र दिखायी पड़ती है। आपके निबंधकार की विशिष्टता को रेखांकित करते पं. हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखा था—"संस्कृत साहित्य और भारतीय संस्कृति-परम्परा के वे पंडित हैं। छोटे-छोटे हल्के विषयों को स्पर्श करते समय भी उनके मानस के अंतर्स्थित भाव अनायास उनकी कलम की नोक पर आ जाते हैं और आधुनिक युग के अनेक उलझे हुए प्रश्नों पर समाधान का आलोक दे जाते हैं।" डॉ. विद्यानिवास मिश्र के प्रमुख निबंध-संग्रह हैं—*छितवन की छाँह, कदम की फूली डाल, आँगन का पंछी और बनजारा मन, तुम चन्दन हम पानी, मेरे राम का मुकुट भीग रहा है, कौन तू फुलवा बीननिहारी, अंगद की नियति, तमाल के झरोखे* every little move of this land and its people. His insights are acute, his expression moving. As he himself puts it, "I grew up on the affection bestowed upon me by the lower reaches of the Himalayas; the confluence of Ganga and Yamuna gave me the momentum through the swings of conflicts, and the Vindhyas taught me to be patient ... I was born to Sanskrit, and English suckled me; but cool shade I got only under the green wings of Bhojpuri."

Dr. Vidya Niwas Misra's cultural sensitivity is imbued with the cordiality and interiority of the well known folklore and historical awareness of his own region and birth place. That is also what makes his Indianness and humaneness more catholic. According to him, "Identifying Indianness is a continuous process and it means in fact identifying oneself." This approach has equipped him not just with faith in his own culture but also an open mind to understand the world culture—devoid of any racial narrowness or national prejudice.

Dr. Misra is one of the pioneering essayists in Hindi. In his prolonged and frequent sojourns to the West, he has closely observed the modern Western life in its variegated shades, as also the shallowness or hollowness of the consumerist culture. As a consequence, his talents are geared to safeguard the humanity from the predicament or curse of modernism. The essayist Vidya Niwas Misra accords the central place to universal humanism, though his allusions emanate from his intimate village-world or from his familiar urban settings. He is always found grappling with those questions and challenges that invariably corrode the conditions of human verity. One can perceive the expressive glow of both folk and canon throughout his essays. His essays are almost like a rhapsody to the greatness of one's own soil.

Acharya Hazari Prasad Dwivedi has underscored the uniqueness of his essays in the following words : "He is a pundit of Sanskrit Literature and Indian culture and tradition. Even as he touches upon the minor subjects or themes, his innermost thoughts and feelings effortlessly come down to the tip of his pen and a number of tangled questions of the modern times do get lit up with unexpected solutions."

His major works include the following collections of essays : *Chhitavan ki Chhanh, Kadam ki Phooli Dal, Angan ka Panchhi aur Banjara Man, Tum Chandan Ham Pani, Mere Ram ka Mukut Bheeg Raha Hai, Kaun Too Phulawa Beenanihari, Angad ki Niyati, Tamal ke Jharokhe Se* etc. Besides he has published a number of books on Indological themes.

Dr. Misra's 'personal' essays are suggestive of different moods of human mind and at the same time they take into account the secular, cultural and geographical or environmental conditions related to such moods; he is highly successful in depicting turbulence arising in the minds of the connoisseurs or cognicenti.

The poetically inclined Dr. Misra has also written poems

से। ललित निबन्ध संग्रह के अलावा मिश्र जी के पुराविद्या विषयक अनेक ग्रंथ प्रकाशित हैं।

अपने व्यक्तिव्यंजक निबंध-संग्रहों के माध्यम से डॉ. मिश्र ने मनुष्य की विभिन्न मानसिक स्थितियों की व्यंजना करते हुए लौकिक, सांस्कृतिक एवं भौगोलिक स्थितियों का आकलन और सहृदय के मन में उठने वाले उद्वेलन का प्रभविष्णु अंकन किया है।

कविमना डॉ. मिश्र ने अवकाश के क्षणों में कविताएँ भी लिखी हैं और इनमें उनका चित्त निर्बन्ध होकर विचरण करता है। लेकिन अपने आस्थावादी स्वर के बावजूद समकाल के प्रश्नों से जूझते हुए अपने उत्तर *गीतगोविन्द* कविता-संकलन की एक कविता में आप आज के मनुष्य की त्रासदी के बारे में दो टूक कहने से भी नहीं कतराते—

"न कोई घर रहेगा, न घरवाला, न घरवाली / सब होंगे आखेटक / सब होंगे आखेट / आखेट युग आ गया है, जहाँ घर नहीं होते।"

सत्यशोधन की महत्त्वाकांक्षा से प्रेरित होकर ही पं. विद्यानिवास मिश्र ने *महाभारत का काव्यार्थ*-जैसे कालजयी ग्रंथ की रचना की। विद्यानिवास जी के अनुसार जीवन की पवित्रता ही *महाभारत* के महासत्य की पीठिका है। इस महासत्य की कसौटी है अहिंसा, करुणा एवं भूतानुकम्पा।

विद्यानिवास जी भारतीयता के अद्वितीय प्रवक्ता हैं और आपकी अप्रतिम वाग्मिता का सभी लोहा मानते हैं।

एक सर्जक और चिन्तक के रूप में उत्कर्ष के लिए डॉ. विद्यानिवास मिश्र को साहित्य अकादेमी, अपने सर्वोच्च सम्मान, *महत्तर सदस्यता* से विभूषित करती है। □

which show him in his moments of gay abandon. And yet, in spite of the note of a deeply believing person, he does not shirk from voicing a harsh judgement on man's predicament today in his collection, *Uttar Geet-Govinda* :

"There shall be no homes
Nor the makers of home,
Everyone will be a hunter
Everyone
The hunted
It's an age of hunting, when
No one makes a home."

In another of his major works *Mahabharat ka Kavyartha,* Dr. Misra attempts a hermeneutics of the great Indian epic. According to him, the highest truth that the *Mahabharat* propounds is that of sacredness of life. The touchstone of this great truth is to be found in compassion, non-violence and love or respect for all forms of life.

In his life as in his literary output, Dr. Vidya Niwas Misra has articulated Indianness in all its splendour. Listening to his public speeches is a great treat for one's ears.

For his eminence as a scholar, thinker and writer, the Sahitya Akademi confers its highest honour, the Fellowship, on Vidya Niwas Misra. □

स्वीकृति वक्तव्य

विद्यानिवास मिश्र

अपने देश की सर्वमान्य साहित्य संस्था ने मुझे अपना महत्तर पारिषद्य प्रदान किया है, इसके लिए आभार से अवनत हूँ। यह मेरे लिए दुगुने हर्ष का अवसर है कि यह सम्मान मैं भारतीय सर्जक प्रतिभा के साकार विग्रह श्री अनंतमूर्ति के हाथ से (जो सुखद संयोग से इस समय इस संस्था के अध्यक्ष भी हैं) पा रहा हूँ। वे मुझसे उम्र में छोटे हैं, पर अपने सर्जनात्मक चित्त के निरंतर उद्वेलन की उत्तुंगता में मुझसे ऊँचे हैं। इससे उनके हाथ से सम्मान पाना और प्रीतिकर है। मेरे हर्ष की सार्थकता अपने स्नेही पाठक आस्वादक के हर्ष के साथ जुड़कर है। उन्हीं के भीतर, चाहे वे संख्या में अधिक न हों, जो प्रसन्नता होगी, वही मेरी वास्तविक प्रसन्नता है। मेरे ऊपर आरोप है कि पंडित जी समूह के लिए नहीं लिखते, इसे मानकर चलता हूँ, मेरे आस्वादक थोड़े होंगे, बहुत प्रबुद्ध लोगों में शायद और भी थोड़े होंगे। परन्तु मुझे इसका बड़ा परितोष रहा है कि मेरी रचना के आस्वादक स्व. नवीन जी, भाई अज्ञेय (जो यही आग्रह करते थे—मैं आपकी नयी पुस्तक का पहला पाठक होना चाहूँगा), स्व. सियारामशरण गुप्त, स्व. लोहिया जी, स्व. हजारी प्रसाद द्विवेदी जी, स्व. भवानी भाई, स्व. पं. श्रीनारायण चतुर्वेदी, स्व. भाई देवेन्द्रनाथ शर्मा जी, स्व. नलिन विलोचन शर्मा जी-जैसे कृती रहे हैं और उनसे जो मुझे प्रोत्साहन मिला, इसी से मेरी रचना को शक्ति मिलती रही है। अपने समकालीनों के नाम नहीं गिनाऊँगा, अधिकांश का मुझ पर स्नेह सुविदित है। इन सबको कृतज्ञ भाव से स्मरण करता हूँ। उन अनगिन लोगों के प्रति मैं कम आभारी नहीं हूँ, जो अप्रत्याशित रूप से समय-समय पर अपनी प्रतिक्रिया भेजते रहे हैं। जब कभी किसी अज्ञात कोने के किसी नलकूप चलाने वाले का, किसी हाईस्कूल या बी.ए. के विद्यार्थी का या किसी औद्योगिक क्षेत्र के डॉक्टर या इंजीनियर का पत्र मिलता—आपका लेख पढ़ा, आपने मेरे मन में जाने क्या-क्या उभार दिया, तब-तब मुझे लगता, मुझे अपनी मजूरी मिल रही है। मैं नहीं जानता, यह सम्मान मेरा अधिक है या उस यहाँ-वहाँ बिखरे, पर समान हृदय वाले पाठकों के समाज का, जो मेरे जैसे एकचारी (एको चरे खग्ग विसाण कप्पो—गैंडे की तरह अकेला चले, इस उपदेश का अनुसरण करने वाले) के साथ है। तमाम ख़तरे उठा कर कि हमारी सामाजिक चेतना प्रश्नों के घेरे में आ जायेगी, रचना तो उसी असंगठित, अनाम पर अहैतुक भाव-सम्पन्न समाज की है, मेरे-जैसा गरियार रचनाकार (रचना-कर्म से निरन्तर कतराने वाला, बड़ी मुश्किल से लिखने का जुआ उठाने वाला) भला क्या रचता।

मैं उन स्रोतों का भी प्रणति भाव से स्मरण करना चाहूँगा, जिन्होंने मुझे पाला-पोसा, खड़ा किया, चलना सिखाया, बोलना सिखाया। इनमें वाचिक तत्त्व ही प्रधान रहा। एक पक्ष था शास्त्र का, घर में संस्कृत परम्परा से चली आ रही थी, हमारे क्षेत्र में पाणिनीय व्याकरण की प्रधानता थी, वैसे भी वह समस्त शास्त्रों का द्वार खोलता है, इसलिए संस्कृत की वाचिक शिक्षा भरपूर मिली, बचपन से ही मिली। मेरे पिताजी थे पेशे से वकील, पर शास्त्रों पर उनकी अटूट श्रद्धा थी, वे निरन्तर शास्त्रों का, विशेष रूप से धर्म के नीति व्यवहार पक्षों का, अध्ययन करते रहते थे। इनके साथ ही वे श्री भागवत् का पारायण करते रहते थे। मेरे दूसरे पितृव्य संस्कृत के प्रकाण्ड पंडित थे, उनसे ही मैंने व्याकरण और न्याय में प्रवेश पाया। वे पूजा पर बैठते, संस्कृत में ही कुछ पूजा की वस्तु मँगाते और मैंने उनकी पूजा के पास प्रसाद के लोभ से बैठ-बैठ कर सहज ही संस्कृत सीखी। दूसरा वाचिक पक्ष था—लोक का। मेरे बाबा ने *महाभारत, रामायण* और *भागवत* की पूरी कथा सोते समय सुनायी, वह आज भी पोथी के ज्ञान से अधिक गहराई में अंकित है। मेरी माँ, मेरी दादी, मेरी नानी, ये सभी लोक शास्त्र की प्रमाण मानी जाती थीं, गाँव भर के लोग लोकाचार और लोकगीतों के बारे में उन्हीं से कुछ भूलने भटकने पर पूछने आते थे। मेरी नानी तो तब अस्सी पार हो गयी थीं, लम्बी थीं, जल्दी कमर झुक गयी थी, लाठी टेके, मामा जानने न पाये, पीछे से ज्यों ही किसी के घर कोई दारुण विपदा आयी सुनतीं, निकल जातीं। वे केवल क्या ऐसे समय करना है, इसकी सलाह भर न देतीं, अपने घर से अनाज और-और बहुत सामान पहुँचा देतीं। उनके पास अक्षय कथा कोष था। उसका थोड़ा-सा हिस्सा ही मुझे मिला होगा। माँ का कंठ बहुत ही मधुर था और गाने का उत्साह अंतिम समय तक बावजूद दमा, बना रहा। मेरी दादी ने आग्रह करके मेरी बेटी के विवाह के अवसर पर मेरा यह गाना बजाया जाय, साँस उखड़-उखड़ जा रही थी, पर अकेले जाने कितने संस्कार गीत गाये। मेरी माँ ने मेरे दौहित्र का मुँह देखे बिना इस लोक को नहीं छोड़ने का संकल्प लिया था और उसे देखा, उसके तीन दिनों बाद उन्होंने शरीर छोड़ा और उसे देखते ही दमा की परवाह न कर के ललित स्वर में सोहर (जन्म मंगल गीत) गाये। उनकी गद्दी मेरी पत्नी सँभालती हैं, उनसे भी मैंने बहुत-से अज्ञात रहस्यों का अर्थ पाया है, जो लोक के गर्भ में ही छिपे हुए हैं। मेरा किताबी ज्ञान उस अपरिमित वाचिक स्रोत के किनारे बराबर अपने को छोटा पाता रहा है। इसी से मैं व्यवसाय से अध्यापक हो कर भी, पुस्तकों से बाहर अनुभव का महोदधि लहरा रहा है, इसकी प्रतीति पाता रहा हूँ। यही प्रतीति मेरी रचना को रस का स्पर्श देती रही है। यह न होती तो मैं भी सोंठ बना ऐंठता रहता और यदि साहित्य पढ़ाता तो उसको भी कूट-पीस कर उसका ऐसा मसाला बनाता कि रचनाकार बेचारा पहचान भी न पाये, यह मेरी

रचना की अध्यापकी परिणति है।

बहुत ही सरपटी तौर पर अपना रचना-जीवन आप के सामने रखूँ—मैं शुरू में प्राइमरी स्कूल में गया, उसी बीच उपनयन के बाद वेदारम्भ हुआ, साथ-ही-साथ घर में ही अंग्रेज़ी, गणित और भाषा पढ़ता रहा, बहुत कुछ पिताजी से, कुछ उनके सहयोगी मित्र स्व. पं. हरिश्चन्द्रपति त्रिपाठी से। उन्होंने गाय पर लिखने को कहा। मैंने अपने घर में बछिया से गाय बनी गंगोत्री के बारे में ही लिखा, उसी के स्वभाव का वर्णन किया। वे प्रसन्न हुए, उन्होंने ही आशीर्वाद दिया। पिताजी मुझे सिविल सेवा में ले जाना चाहते थे, पर जब मेरी रचना स्व. त्रिपाठी जी अपनी मासिक पत्रिका में, मैं बारह का था, तभी से छापने लगे, पिताजी ने कहा—अब यह काम से गया। इस प्रकार कच्ची उम्र में मैं इस समाज में अनुपयोगी सीस-उतार सत्यानाशी व्यापार की ओर मुड़ा; क्या खोया, क्या पाया, कौन हिसाब करे। हाँ, हर खोने पाने का रस लिया और उसे शब्दों को दिया। पिताजी का मनोरथ कुछ-कुछ पूरा होने वाला था कि उन्हीं की इच्छा से मैं सरकारी कामकाज छोड़ अध्यापन में आ गया। मेरी हिन्दी रचनाओं को मेरे इंटर कक्षा के अध्यापक स्व. राजनाथ पाण्डेय ने अपने पास से पुस्तकें देकर नये साहित्य (हिन्दी और हिन्दी के माध्यम से विश्व साहित्य) की जानकारी करायी। इसके पश्चात् मैं निबंध विचरण करने लगा, जाने स्व. भाई को क्या लगा, भेंट हुई संस्कृत के पंडित के रूप में और वे रीझे मेरे निबंधों पर, सिलसिलेवार उन्होंने मेरे निबंध *प्रतीक* में छापे। तब मैं 20-21 का था, मेरा पहला निबंध-संग्रह *छितवन की छाँह* अधिकांश उन्हीं निबंधों का संग्रह है। उसे सुरुचि के साथ स्व. श्रीपत भाई ने छापा। छपने के दो वर्ष के भीतर मेरे लिए बिल्कुल अपरिचित पंडित नलिन विलोचन शर्मा ने उसे बिहार में बी.ए. के कोर्स में लगाया। जाने कितने अध्यापकों ने मुझे कोसा, जाने कितने विद्यार्थियों ने श्रद्धाभाव से इस (वरेण्य?) साहित्यकार को पत्र लिखे। मैं कौतुक से भर गया। मैंने निजी रूप से कविताएँ भी लिखीं, ब्रज भाषा में, संस्कृत में, हिन्दी में, कुछ भोजपुरी में भी। पर निबंध (जिसे मैंने ललित नहीं कहा, स्व. द्विवेदी जी ने लालित्यविधान शब्द क्या दिया मेरे निबंध ललित हो गये) अनायास मेरी अभिव्यक्ति बना। इसके बाद लगभग हर वर्ष या तीसरे वर्ष कोई-न-कोई संग्रह आता रहा। अपने प्रयास से कम, मित्रों के द्वारा संगृहीत होकर और प्रकाशक की अभिरुचि से बेशी, पर पूरे रचनाकाल में केवल एक संग्रह है, जिस पर दो-दो भूमिका लिखी गयीं, पं. श्रीनारायण चतुर्वेदी और पं. हजारी प्रसाद द्विवेदी के द्वारा। 1947 वर्ष में मेरे जीवन में ऐसा मोड़ आया कि मेरे-जैसा घरपोसू आदमी अनचाहे यायावर बन गया और मेरे पैरों में पंख लग गये। कितने वन-निर्झर, नदी-नाले, पहाड़, सागर-तट, कितने उजाड़ खंडहर, कितनी अगम गुफाएँ, कितने वीरान महल, कितनी चित्रवीथियाँ, कितने नगर, कितने प्रकार के लोग कहाँ-कहाँ मिले, इन सबका पूरा हिसाब नहीं दे पाऊँगा। इतना ही कह सकूँगा, डायरी नहीं रखी, यात्रा के नोट नहीं रखे, पर इन सबकी छाप अपनी रचनाओं में छिपाकर रखी है। इन सबने मुझे रचा है। इन सबने मुझे घर के लिए और आकुल किया, घर की गहरी पहचान दी। मैंने लेखन को व्यवसाय शुरू में बनाना चाहा, पर नियति ऐसी थी, बनाने नहीं पाया, सरकारी नौकरी में गया। वहाँ मेरी घिसाई हुई और मेरी स्वच्छंदता को उकसावा मिला। मेरे एक लेख पर सरकारी कार्रवाई की सलाह एक बुजुर्ग साहित्यकार ने दी थी, पर कुछ समझदार मंत्रियों की कृपा से हुई नहीं। मैंने लेखन को अपने व्यवसाय से अलग और अप्रभावित रखा। लिखना मेरे लिए विवशता रहा है। पूरा जीवन छोटे-मोटे घातों-प्रतिघातों का रहा है, रचना न करता तो जाने कितनी तितास रहती। रचना ने मुझे तितास से उबारा है। आज 70 पार कर के मुझे किसी से भी कोई शिकवा-शिकायत नहीं। साँझ के समय यह अनुभव स्वस्तिकर है। यह नहीं कि मन में स्पृहा नहीं; स्पृहा है, उस सहज निर्व्याज हास की, जो बच्चे में है; स्पृहा है, उस अकूत बेचैनी की, जो किशोर किशोरी में है; स्पृहा है, उस ज्ञान साधना की, जो मेरे गुरु स्व. पं. क्षेत्रेशचन्द्र चट्टोपाध्याय में थी; स्पृहा है, उस मानवीय उत्सुकता की, जो स्व. राहुल बाबा में थी; स्पृहा है उस परार्थ भाव की, जो भैयासाहब पं. श्रीनारायण चतुर्वेदी में थी; स्पृहा है, उस रचना-कौशल की और विदग्धता की, जो भाई में थी। पर मुझे ये सब नहीं मिले, मेरे खाते में इतना पुण्य नहीं था। जिन्हें मिले, उनसे मैं बना, उन के साथ स्पृहा रखी। यह भी भाग्य की बात है और यह स्पृहा बनी रहे, यह अंकुर पनपता रहे, यही आप सब आशीर्वाद दें।

लोग पूछ सकते हैं, आप जीवन से इतने संतुष्ट हैं, क्या अपनी रचना से भी इतने संतुष्ट हैं। मैंने स्पृहा की बात की है न, मैंने जो भी लिखा, वह बस मुझसे लिखा लिया गया, मैंने कुछ नहीं लिखा, भाई के शब्द उधार लूँ, मुझसे लिखने का काम सलटा लिया गया। लिखने योग्य जो था, वह अभी लिखा नहीं गया; लिखा जायेगा, इसका भरोसा तो नहीं दिला सकता। किन्तु संकल्प बुझा नहीं है कि मुझे आत्मप्रसाद के लिए लिखना है और श्रीकृष्ण तथा शंकर के उन अकेले क्षणों में सिमटी हुई उस लम्बी कहानी को लिखना है, जिसकी स्मृति मात्र से अकेलेपन का दर्द दर्द नहीं रहता, भूमात्मक आपूरण भाव बन जाता है। वह लिखना न भी हुआ तो वह चाह मेरे लिए इस देश की मिट्टी में सनने का सौभाग्य पुनः देगी। इस मिट्टी में सनना, खेतिहर के घर में पैदा हुए, खेतिहर जीवन में रची-पची कहानियों में रमे हुए व्यक्ति के लिए, अपरिचय में परिचय की सम्भावना तलाशने वाली इस मिट्टी की संस्कृति में सीझे व्यक्ति के लिए, जीवन का सबसे बड़ा सौभाग्य है।

जो भी विशिष्टता आपने मुझे आज दी है, वह मेरी नहीं, मेरे उस अतिसामान्य की है, जिसके कारण आज भी हर पंछी, हर प्राणी, हर पेड़-पौधा, हर नदी-निर्झर मुझे बिल्कुल अपना, केवल अपना लगता है।

उस सामान्य भाव को, जिसे पुरखों ने मानुष भाव कहा और जिसे हमारे कवियों ने, मनीषियों ने कामतत्त्व कहा है, एकाकी न रमने से उपजी उत्कंठा कहा है, जिस सामान्य भाव को जीने वाले श्रीकृष्ण पूर्णावतार माने गये और प्यार के सर्वश्रेष्ठ दुर्निवार आलम्बन माने गये, उसे मैं प्रणाम करता हूँ। वह मेरा पाथेय बना रहे, वही मेरा गंतव्य बना रहे, वही मेरी गति बना रहे, बस यही हाथ पसार कर माँगता हूँ। साहित्यकार सबसे अधिक धनी होता है, उसी से माँगा जा सकता है, उसी से माँगता हूँ। जैसे आप सबने यह सम्मान दिया, वैसे ही यह सामान्य से जुड़ने की विनम्रता भी दीजिये।

अंत में इस आत्मीयता भरे समारोह के आयोजन के लिए अपने स्नेहभाजन डॉ. इन्द्रनाथ चौधुरी, सचिव साहित्य अकादेमी को धन्यवाद न देकर आशीर्वाद देता हूँ। उनका ऐसा ही भाव सभी रचनाकारों के प्रति बना रहे और वह उनकी शुभकामनाओं से अभिषिक्त होते रहें। नमस्कार।

□